Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2018 SHISRRJ | Volume 1 | Issue 4 | ISSN : 2581- 6306

श्रीमद्भगवद्गीता के आलोक में धर्म

डॉ0 ज्योति कपूर
एसोसियेट प्रोफेसर,
संस्कृत विभाग,
सदनलाल सांवलदास खन्ना
महिला महाविद्यालय,
इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश, भारत।

शोध आलेख सार– श्रीमद्भगवद्गीता एक जीवन्त शास्त्र है। वह हमें जीवन जीने की कला सिखाती है। देश, काल भाषा, सम्प्रदाय एवं क्षेत्र से न बँधी हुई सार्वजनीन, सार्वकालिक, कालजयी कृति ने सम्पूर्ण मानवजाति के लिये जीवन एवं कर्म सूत्र प्रदान किये। से उपादेय है जो सब प्राणियों के कल्याण में अपना जीवन लगाये, वह भगवान को अधिक प्रिय है। मानवी–सेवा मनुष्य का सबसे बड़ा मानवत्व है और दैवी–प्रकाश के उत्पादन का साधन है। यदि मनुष्य भगवत्व प्राप्ति करना चाहे तो उसे निर्धन, पतित या निर्बलकाय और श्रान्तात्मा मनुष्य की सेवा को ही लक्ष्य प्राप्ति का साधन बनना होगा। इसी मानव–धर्म का गीता में स्थान–स्थान पर उल्लेख है।

मुख्य शब्द– श्रीमद्भगवद्गीता, धर्म, मानव–धर्म, सार्वजनीन, सार्वकालिक, कालजयी, भगवान् श्रीकृष्ण।

श्रीमद्भगवद्गीता एक जीवन्त शास्त्र है। वह हमें जीवन जीने की कला सिखाती है। देश, काल भाषा, सम्प्रदाय एवं क्षेत्र से न बँधी हुई सार्वजनीन, सार्वकालिक, कालजयी कृति ने सम्पूर्ण मानवजाति के लिये जीवन एवं कर्म सूत्र प्रदान किये। गीता समत्वरूप योग की शिक्षा के द्वारा चतुर्दिक समाज में व्याप्त विभेदपरक, स्वार्थ लिप्त ईष्या–वैमनस्य को प्रतिक्षण प्रदीप्त करने वाली अग्नि को शमित करने का महत्कार्य कर सकती है। गीता का प्रारम्भ ''धर्मक्षेत्रे'' से हुआ है। जिसका प्रथम अक्षर ''धर्'' है और इसकी समाप्ति ''मतिर्ममः'' से हुई जिसका अन्तिम अक्षर ''मम'' का ''म'' है। इस प्रकार पहला अक्षर और अन्तिम अक्षर मिलकर ''धर्म'' शब्द बनता है। यह धर्म भी गीता का वास्तविक अर्थ है।

संसार के अनेकानेक ग्रन्थों में श्रीमद्भगवद्गीता अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। स्वयं योगिराज भगवान श्रीकृष्ण इसके वक्ता है और उनका डिडिम्ब घोष है कि ''गीता'' मे हृदयमस्ति पार्थ'' अस्तु गीता सनातन धर्मावलम्बियों के हृदय की राजराजेश्वरी हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। इसका दिव्य सन्देश किसी जाति अथवा देश विशेष के लिये उपादेय न होकर विश्व के लिये है, सार्वभौम है। गीता सर्वशास्त्रमयी है। समस्त शास्त्रों का मंथन कर अमृतमयी गीता का आविर्भाव हुआ है। गीता में विविध सिद्धान्तों का एकीकरण ऐसी सुन्दरता से हुआ है कि तत्त्वजिज्ञासु चाहे जिस मार्ग से चले समस्त मार्ग एक ही राजमार्ग की ओर उसे प्रेरित करते हैं, ले जाते हैं।

विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार से धर्म की परिभाषाएं प्रस्तुत की गयी हैं। जैसे ''धारयतीति धर्म'' अथवा ''धारणात् इति धर्म'' इन सामान्य परिभाषाओं को मनु ने इस प्रकार व्याख्यायित किया है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयमार्जवमिन्द्रियानिग्रहः।

धीर्विधा सत्यक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।[iv]

अथवा

धारणात् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।

यस्माद् धारणा संयुक्तः स एव धर्म इत्युच्यते।।[vv]

अर्थात धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय आर्जव, इन्द्रिय–निग्रह, धी, विद्या, सत्य अक्रोध, प्रजाधारण इत्यादि धर्म के चिन्ह है। हस्तिनापुर नरेश महाराज युधिष्ठिर में ये गुण विद्यमान थे इसीलिये उन्हें धर्मराज कहा जाता है।

सांसारिक जन–जीवन में सुख, समृद्धि और शान्ति के विस्तार को ''अभ्युदय'' कहा जाता है और पारलौकिक जीवन में परमशांति की प्राप्ति को ''निःश्रेयस'' की संज्ञा दी गई है। आचार्य शंकर अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य की भूमिका में अभ्युदय के साधन के रूप में धर्म का उल्लेख करते हैं और ब्रह्मज्ञान के साधन के रूप में निःश्रेयस का। मानव समाज के आदिशासक मनु ने ''सदाचार'' को ही परम धर्म माना है। ''आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च''।[iii] वैशेषिक दर्शनाचार्य महर्षि कणाद ने भी कहा कि जिस प्रकार सदाचार के पालन करने से मानव को लोक में अभ्युदय और परलोक में परम कल्याण रूप शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है वही धर्म है, ''यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धि स धर्मः।''[vvi] वास्तव में स्वार्थ निरपेक्ष और सार्वजनिक भावना से जो कुछ किया जाता है, वही धर्म है। कर्म का निर्मल रूप ही धर्म है। धर्म तो भावना है। जिसको कार्यरूप देने वाली प्रक्रिया कर्म है। कर्म का मर्म ही धर्म है। इसीलिये गीताचार्य जनक जैसे राजर्षियों के समर्पित जीवन का उदाहरण देते कहते हैं– कर्मणैव हि संसिद्दिम् आस्थिता जनकादयः।[v] लोकसंग्रह अथवा लोक कल्याण की निःस्वार्थ निष्ठा से किया गया कर्म ही प्रत्येक जीवधारी को इहलोक और परलोक में अभीष्ट सिद्धि प्रदान करता है और इसी को भारतीय चिंतन में धर्म की संज्ञा दी गई है।

''वेदोऽखिलोधर्ममूलम्''[vi] कहकर वेदों को धर्म का मूल कहा गया है। ऋग्वेद में ''धर्म'' शब्द स्पष्ट रूप से धार्मिक क्रिया–कलापों के अर्थ में प्रयुक्त है। अथर्ववेद में पुनरावृत मंत्रों के ''धर्म तथा धर्मन्' दोनों रूप उपलब्ध है। ब्राह्मण ग्रंथ धार्मिक अनुष्ठान की दृष्टि से संग्रहीत है, अतः उनमें 'धर्म' शब्द का बहुल प्रयोग स्वाभाविक है। छान्दोग्य उपनिषद में[vvii] धर्म के तीन स्कन्ध माने गये हैं। तैत्तिरीय उपनिषद में[vviii] ब्रह्मचारी को ''धर्म चर'' कहकर धर्माचरण का उपदेश दिया है।

गीता का श्रीगणेश ही 'धर्म' शब्द से होता है। गीता में जिन बातों तो उपदेश के रूप में कहा गया है वे सब तथ्य धर्म के ही अन्तर्गत निहित हैं क्योंकि भगवान स्वयं कहते हैं– ''इमं धर्म्य संवादभावयोः''।[ix] अर्जुन भी ''धर्मसंमूढचेताः''[x] होकर उपदेश का प्रार्थी हुआ था। यह संस्तर भी धर्मक्षेत्र है। उचित अथवा अनुचित का विवेक मनुष्य में ही विशेष रूप से पाया जाता है। नैतिक संघर्ष मनुष्य के हृदय की समर भूमि में निरन्तर चलते रहते हैं। ऐसे समय

में धर्म का अवलम्ब ही एक मात्र उपाय है। गीता का उद्देश्य किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं अपितु धर्माचरण की प्रेरणा देना है।

भगवद्गीता के 12वें अध्याय के सात श्लोकों में (13–20) में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति जिस परम भक्ति का निरूपण किया है उसे ''मानवधर्म'' और ''विश्वधर्म'' कहा जा सकता है। भगवान ने अपने प्रिय भक्तों के लिये निम्नलिखित गुणों का वर्णन किया है।[गप] सूक्ष्म रूप से जो किसी से द्वेष नहीं करता तथा मैत्री आदि गुणों से सम्पन्न होता है। इस प्रकार का भक्त मेरा प्रिय है। अन्त में कहा है–

ये तु धर्मामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।

श्रद्धाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियः।।[xii]

स्वयं श्रीकृष्ण ने गीता के इस उपदेश का उपसंहार करते हुए इसे ''धर्म्यामृत'' अर्थात आचरण की दृष्टि से साक्षात् अमृत कहा है। वास्तव में विचार किया जाय तो यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि मानव जीवन की परम सिद्धि और उसकी परम सम्पत्ति उसके सदाचार में रहती है। भगवान श्रीकृष्ण सदाचार को अमृत–धर्म बताते हुए मानो स्पष्ट रूप से स्पष्ट कर कहे है कि जहाँ विद्वान और अर्थवान होने में मानव–जीवन की शोभा है, वहाँ सदाचार साक्षात मानव जीवन का ही दूसरा नाम समझना चाहिये। मानव के लिये यह आवश्यक है कि वह बलवान, विद्वान और अर्थवान के साथ–साथ आचारवान भी हो। इस बात का सदैव स्मरण रखना चाहिये कि आचार के अभाव में बल विद्या और धन आसुरी माया बनकर मानव और मानवता का विनाश करने लगते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में धर्म को विविध रूपों में परिभाषित किया गया है। कहीं कर्म, कहीं स्वभावगत गुण को, कहीं साधन को, कहीं ज्ञान को तथा कहीं भक्ति को धर्म माना गया है। द्वितीय अध्याय के 16 से 29वें श्लोक[गपपप] में योगिराज श्रीकृष्ण ने कहा है कि ''असद् वस्तु का अस्तित्व नहीं होता और सद् वस्तु का अभाव नहीं होता। परमात्मा ही एक मात्र सत्य है, शाश्वत है। वह अजर–अमर, अनिकारी और सनातन तत्त्व है। किन्तु वाङ्मनस् अगोचर है। चित्त की तरंगो से परे है। चित्त का निरोध करके, परमात्मा को पाने की विधि विशेष का नाम कर्म है और इस कर्म को कार्यरूप में परिणत करना धर्म है। गीता के दूसरे अध्याय के चालीसवें श्लोक में श्रीकृष्ण जी कहते हैं।[गपअ] अर्थात् हे अर्जुन! इस कर्मयोग में आरम्भ किये गये कार्य का नाश नहीं होता और न ही विपरीत फल की उपलब्धि होती है। इस कर्मरूपी धर्म की किंचित मात्र भी साधना व्यक्ति को जन्म और मृत्यु के भय से मुक्त कर देती है। गीता के अट्ठारवें अध्याय के 46वें एवं 47वें श्लोकों में कहते हैं कि ''स्वभाव'' में उपलब्ध क्षमता के अनुसार नियत कर्म का पालन करना ही ''स्वधर्मपालन'' है। हल्का होने पर भी स्वभावोपलब्ध स्वधर्म का पालन श्रेयस्कर है और क्षमता अर्जित किये बिना ही दूसरों के उच्च धर्म अथवा कर्म का पालन करना हानिकारक है। स्वधर्म के पालन में– व्यक्ति का मर जाना भी श्रेयस्कर है, क्योंकि वस्त्र परिवर्तन से व्यक्ति परिवर्तित नहीं होता है।[xv] शनैः शनैः वह व्यक्ति साधन पथ के अनेक सोपानों को क्रमशः पार कर परमसिद्धि अथवा अविनाशी पद को प्राप्त कर लेता है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि एक निश्चित विधि से परमात्मा का चिन्तन करना ही धर्म है।

वस्तुतः धर्म आचरण की वस्तु है। प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह आचरण क्षात्र, धर्म, वैश्य धर्म; ब्रह्मधर्म इत्यादि के रूप में सुनिश्चित और एक है– व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरूनन्दन।[xvi] जिसकी प्रक्रिया है इन्द्रियों की चेष्टा तथा मन के व्यापार को संयमित कर, परमात्मा की ओर प्रवाहित करना।

गीता में तप के कायिक, वाचिक तथा मानसिक तीन भेद किए हैं– जिसका अभिप्राय यह है कि इस त्रिविध तप के अनुसार सदाचार का पालन करना चाहिये।

देवद्विजगुरूप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।[xvii]

देवताओं, ब्राह्मणों गुरूओं और विद्वानों की पूजा करना, पवित्रता सरलता ब्रह्मचर्य तथा अहिंसापूर्वक जीवन व्यतीत करना– यह सब शरीर का तप है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।

स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।[xviii]

ऐसे वाक्य बोलना जिससे दूसरे लोग उद्विग्न न हो जाये, जो सत्य होने के साथ–साथ प्रिय हो, हितकारी हो, वाङ्मय का स्वाध्याय करना और स्वाध्याय का अभ्यास करना, यह वाणी का तप है।

मन को प्रसन्न रखना, सौम्यता, मौन संयम और चित्त की शुद्ध भावना, यह सब मानसिक तप है। ये तप मानव को सदाचार सम्पन्न बताते हैं और ऐसे भक्त को भगवान की प्राप्ति कराते हैं।[xix] इसमें ''सर्वभूतहिते रताः''[गग]की भावना विशेष रूप से उपादेय है जो सब प्राणियों के कल्याण में अपना जीवन लगाये, वह भगवान को अधिक प्रिय है। मानवी–सेवा मनुष्य का सबसे बड़ा मानवत्व है और दैवी–प्रकाश के उत्पादन का साधन है। यदि मनुष्य भगवत्व प्राप्ति करना चाहे तो उसे निर्धन, पतित या निर्बलकाय और श्रान्तात्मा मनुष्य की सेवा को ही लक्ष्य प्राप्ति का साधन बनना होगा। इसी मानव–धर्म का गीता में स्थान–स्थान पर उल्लेख है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

i. मनुस्मृति–षष्ठ अध्याय, 92 श्लोक, डॉ0 राम निहोर पाण्डे, प्राच्य विद्या संस्थान, इलाहाबाद।
ii. महाभारत – शान्तिपर्व, 108.11
iii. मनुस्मृति– 1/108
iv. कणाद् – वैशेषिक – 1.12
v. श्रीमद्भगवद्गीता– 3, 20, श्लोक
vi. गौतम धर्मसूत्र – 1, 1.2
vii. त्रयोधर्मस्कन्धा यशोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः, तप एवेति द्वितीयः ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयः। छान्दोग्य उपनिषद, 2.3
viii. तैत्तिरीय उपनिषद – 1.11

ix. श्रीमद्भगवद्गीता– 18वाँ अध्याय, 70 श्लोक

x. श्रीमद्भगवद्गीता– 2वाँ अध्याय, 7वाँ श्लोक

xi. अद्वेष्टा सर्वभूतानाम मैत्रः करूण एव च। निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुख क्षमी।।

xii. तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः। मध्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे पियः।। श्रीमद्भगवद्गीता–12 अध्याय, 13, 14 श्लोक

xiii. श्रीमद्भगवद्गीता – 12.20

xiv. श्रीमद्भगवद्गीता – (द्वितीय अध्याय– 16वें श्लोक से 29वें श्लोक तक)

xv. नेहाभिक्रमनाशेऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते। स्वल्पमत्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।। श्रीमद्भगवद्गीता– 0 श्लोक।

xvi. श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। श्रीमद्भगवद्गीता 18–47 श्लोक

xvii. वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः। श्रीमद्भगवद्गीता 3–35 श्लोक

xviii. श्रीमद्भगवद्गीता – 2–41

xix. श्रीमद्भगवद्गीता– 17–14 श्लोक

xx. श्रीमद्भगवद्गीता– 17–15वां श्लोक

xxi. मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।

xxii. भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते। श्रीमद्भगवद्गीता – 17 अध्याय, 16वां श्लोक।

xxiii. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 5, 25वां श्लोक।